समकालीन हिन्दी कहानी और जनवाद

रामकृष्ण पाण्डेय

शोधछात्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ईमेल–rk.pandey28889@gmail.com

समकालीन शब्द अपनी अर्थवत्ता की दृष्टि सामान्य एवं विशिष्ट शब्द है। समकालीनता का सामान्य अर्थ समय के साथ चलने या होने से है। यदि इस अर्थ पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो यह बात सामने आती है कि आज हमारे आस पास जो भी कुछ हो रहा है वह समकालीन है। यदि इस बात को सत्य मान लें तो आज के 100, 200 या 400 वर्ष पूर्व जो मनुष्य, समाज या साहित्य रहा होगा वह भी अपने समय में समकालीन ही रहा होगा लेकिन आज हम उसे समकालीन नहीं कहते हैं, ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए है कि समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने या रहने से नही है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना। समकालीन लेखक की पहचान यहीं से हो सकती है कि अपने समय के सवालों के प्रति वह किस तरह प्रतिक्रिया करता है और अपने लेखन में उन सवालों के लिए जो जगह वह निर्धारित करता है, उन सवालों के प्रति वह कितना गंभीर है, कहीं न कहीं इन सबसे ही उसकी समकालीनता सुनिश्चित होती है।[1]

जिस जनवाद का आन्दोलन हम साहित्य में खड़ा कर रहे हैं, उसमें जनता के अन्तर्विरोध कम उभरे हैं, हमारे आपसी अन्तर्विरोध अधिक तीखे ढंग से प्रकट हुए हैं। बहरहाल, कहानियों में जनवाद के इन रूपान्तरों ने कहानी को बहुत आगे नहीं बढ़ाया है। आज कलाहीनता, सपाटबयानी और अनजान चेहरों की चर्चा, नकली यथार्थ, नक़ली कहानी, अजीब तरह से आ रही है। इस प्रकार की शिकायतों को करने वाले लोग भी सामान्य नहीं है यह शिकायत बड़े–बड़े लोग कर रहे हैं, लिखकर भी और गोष्ठियों–दूरदर्शन के मंच से भी। पर यह कोई नहीं बता रहा कि असली कहानियाँ कैसी हों। चूँकि सैद्धान्तिक बहसों ने चीज़ों को और भी उलझा दिया है, इसलिए इस टिप्पणीनुमा लेख में कोई सैद्धान्तिक बहस नहीं की गई है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसका कोई सैद्धान्तिक पक्ष भी नहीं है। सिद्धान्त ज़रूरी है, और व्यवहार से परीक्षित होने पर और भी ज़रूरी हो जाता है।

प्रगतिशीलता को नाकामी मानने वाले उभयपक्ष अपने को ज़्यादा क्रान्तिकारी मान कर चले हैं। नई कहानी ने कहानी के आन्दोलन को कोई राजनीतिक नाम तो नहीं दिया

Scanned with CamScanner

था, मगर राजनीतिक धारा अवश्य दी थी। नाम बिखर गया, धारा जीवित रही। किस रूप में जीवित रही? इस धारा में ऐसे लोग थे जिन्होंने राजनीतिक कहानियाँ शायद ही लिखी हों (आज स्थिति यह है कि एक राजनीतिक कहानी पर पूरी बहसें टिका दी जाती हैं। यह और भी दुर्भाग्यपूर्ण है।)

आज के समाज को लोग किस तरह देख रहे हैं? वे अन्वर्यैक्तिक समाज और निर्वैयक्तिक समाज के ऐतिहासिक भेद को मिटा कर कहानी से कला की माँग कर रहे हैं। वे नहीं देख पाते कि हमारी सामाजिक बनावट में ही परिवर्तन ख़तरों से भरा हुआ है। ख़तरा मोल लिए बिना न तो उस बनावट को तोड़ा जा सकता है और न परिवर्तन ही लाया जा सकता है। हर व्यवस्था संरक्षणशील होती है। भारतीय व्यवस्था को आचार्य द्विवेदी जी संरक्षणशील मानते हुए उसका सरलीकरण न कर रहे थे। ऐसी संरक्षणशील व्यवस्था विश्व समाज में कम ही दिखाई पड़ती है। पर इस संरक्षणशील समाज की आन्तरिक व्यवस्था विस्फोटक स्थितियों तक पहुँच गई है। आज इस विस्फोट की पूर्व परिस्थितियाँ हमें दिखाई पड़ने लगी हैं। अवश्य ही इस विस्फोटक परिस्थिति को कलमबन्द करते हुए कहानीपन पर ध्यान रखना भी अनिवार्य है।[2]

आज का हिन्दी कहानीकार क्या केवल घटनाओं का ही पीछा कर रहा है? क्या घटनाओं की व्याप्ति का यह लक्षण कोई रचनात्मक अर्थ नहीं रखता? इसे तय किए बिना झूठी–सच्ची कहानियों को अलगाया भी नहीं जा सकता और न सही रचना–धर्म की पहचान ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में कहानी की दुनिया में एक बार फिर से प्रवेश करने की ज़रूरत नहीं है क्या? इस दूसरे प्रवेश से क्या हासिल होगा? ये तमाम सवाल आज जनता के जीवन और जनवाद से जुड़ गए हैं और लेखक को अनिवार्यतः प्रभावित भी कर रहे हैं।

आज घटनाओं की स्मृति को मिटा पाना निरन्तर मुश्किल होता जा रहा है। आतंक उन्हें मिटने नहीं दे रहा है। ऐसी ही परिस्थिति में उनमें संघटित संघर्ष की भावना भी जन्म ले रही है। इस सामाजिक यथार्थ को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। आतंक के भीतर भी एक जीवित प्रतिरोध क्या कहानियों का विषय बनकर इतना नक़ली हो जाता है! यह ठीक है कि आतंक का यह क्षेत्र अभी बिखरा–बिखरा और क्षेत्रीय लगता है। पर इस क्षेत्रीय दिखने वाले यथार्थ की ओर से आँखें मूँद कर भी हम इतिहास के प्रति सचेत बने रहने का दावा नहीं कर सकते। यह वह क्षेत्र है जिसे हम भावी सर्वहारा की खेतिहर पृष्ठभूमि कह सकते हैं। इस संघर्ष से निकला हुआ समुदाय भविष्य की राजनीतिक लड़ाइयों का बड़ा प्रभावी हिस्सा साबित हो सकता है। बिना किसी अतिरिक्त उत्साह के भी इस प्रक्रिया को देखा–परखा जा सकता है।[3]

दुर्भाग्य यह है कि जहाँ भारतीय जनता के अन्तर्विरोध और अन्तर्विभाजन से देश में जनवाद की परिस्थितियाँ आहत होती हैं, वहीं राजनीतिक अन्तर्विभाजन से भी जनवाद की दिशा में कोई सही प्रगति मुश्किल हो रही है। महाराष्ट्र का दलित साहित्य भी इसीलिए मुख्य जनवादी धारा में आने से रह गया है। इसी तरह अपने यहाँ पूर्वी क्षेत्र में झारखण्ड

Scanned with CamScanner

के आन्दोलन ने हिन्दी विरोधी रूख़ अपनाकर मुख्यधारा से जुड़ने से इनकार किया है। सम्प्रदायवाद के आकस्मिक उन्माद के साथ भी जनता का विभाजन हुआ है और जनवाद को धक्का लगा है। इन तमाम प्रश्नों के साथ मुख्यधारा का संयोजन नहीं हुआ है।

इस तात्कालिक परिस्थिति में जनवाद के बाधक तत्वों की शक्ल साफ़ होती है। ऐसी स्थिति में क्रान्तिकारी जनवाद का वास्तविक रूप क्या हो, इसे उग्रता से तय करना ख़तरनाक होगा। अनेक उग्रवादी गुट और संघटन भी इधर इस निष्कर्ष तक पहुँचे हैं। इस दौर में मध्यवर्ग के एक उत्साही हिस्से ने आगे बढ़कर कार्य ज़रूर किया, मगर उसने उन परिस्थितियों से लगभग इनकार किया, जिनमें ये लड़ाइयाँ चलाई जातीं और निर्णायक होतीं। वैसे यह उग्रवादी धारा लगभग डेढ़ दशक पहले ही बांग्ला में अपना प्रभाव खोने लगी थी और आज बंगाल में उनका कोई जनवादी लेखक संघ व्यापक संघटन के रूप में लक्षित नहीं होता।[4]

इच्छा–स्वप्न शायद ही देखे जाते हैं। फिर भी आदमी न सपने देखना बन्द करता है और न परिस्थितियों के लिए आर–पार पुल बनाना ही बन्द करता है। प्रेमचन्द ने भी लिखा था, 'मैंने सपने देखना बन्द नहीं किया।' परिवर्तन के सपने अलग–अलग हो सकते हैं और हैं। शैवाल की अधिकांश कहानियों में परिस्थितियाँ तो हैं, घटनाएँ नहीं हैं जिनके कारण यह तमाम निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। पुन्नी सिंह की अधिकांश कहानियों में फ़ैसले के लिए तैयार करती परिस्थितियाँ हैं। तमाम छोटी छोटी पत्रिकाओं में निकली कहानियों को देखकर भी ऐसा नहीं लगता कि जिस राजनीतिक धारा बहाने की इधर चर्चा है, वह नक़ली, स्वकामी और स्वदर्शी है। शंकर ने दंगों पर मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, बैलगाड़ीवानों की रोज़मर्रा ज़िन्दगी की कशमकश दिखाई है। मिथिलेश्वर के 'दूसरा मृत्युंजय' में बड़ी सूक्ष्मता से कामनाशेष मन की विडम्बनाओं को उजागर किया गया है। संजीव की कहानियों में उपन्यास की अपेक्षा अधिक गहरे संश्लिष्ट तत्व देखे जा सकते हैं। बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश के नए लेखक क्यों इस परिस्थिति से जूझ रहे हैं। जहाँ भी भूमि की समस्या है, वहाँ वर्ण तनाव भी है। जहाँ श्रम की समस्या है (कृषि–श्रम) वहाँ भी यही तनाव है, वर्ग–संघर्ष को संघटित करने वाली राजनीतिक शक्तियाँ अब भी अधिकांश में इन मुक़ामों से बाहर हैं। ऐसी स्थिति में कहानी की राजनीतिक धारा उत्पन्न करने के बजाय, लाइनों का संघर्ष चल रहा है, नेतृत्व और कब्जे की होड़ चल रही है। यह दुखदायी परिस्थिति है जो लेखक को निराश करती है और उसके प्रयत्नों को व्यर्थ बना देती है।

हमारे क्षेत्र का एकदम नया लेखक लिखता है, 'अब या तो कुछ अजीब नहीं लगता या सब कुछ अजीब लगने लगता है,... तो अन्दर से एक आवाज़ सुनाई देती है, 'होशियार! कहानी तुम्हें लिखने वाली है।' कथाकार की इस परिस्थिति को क्या एकदम नज़रअन्दाज़ कर उससे कुछ और की माँग की जाय? या इस मार्मिक संभ्रमपूर्ण परिस्थिति में जन्म लेने वाली कहानी को इसी मानसिकता की ज़मीन पर परखा जाए। बाहर–भीतर सर्वत्र

Scanned with CamScanner

अनिर्णायक युद्ध के इस दौर में कला क्या यह नहीं कहती, 'सावधान, कहानी ज़िन्दगी लिखने वाली है।'[5]

कहानियाँ भी साहित्य की स्वीकृत कला नहीं रही। कहानी और कहानीकारों ने कभी इसकी परवाह भी नहीं की। कला और जनवाद के रिश्ते, कम से कम भारतीय सन्दर्भ में, आज कथ्य की मार्मिक पहचान से तय होते हैं। प्रसंगों की विविधता में यह मार्मिक पहचान कहानी को नया अर्थ विस्तार दे रही है, उसकी दूसरी अपेक्षाएँ समय के साथ पूरी होंगी। वैसे इन दूसरी अपेक्षाओं को पूरा करने का रचनात्मक प्रयत्न जारी है और स्वयं लेखकों की आत्मसजगता का भी एक हिस्सा है।

कला के प्रकार्य का सार फब्तियों में, फार्मूलों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मगर इतना निर्विवाद है कि कला एक प्रकार की निपुणता है और यह निपुणता सहज नहीं आती। इसके लिए रचना की सरहदों पर निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। रचना की ये सरहदें कहाँ बनती हैं? आज की स्थिति में ये एक वास्तविक किन्तु अनजानी दुनिया पर अधिकार करने की रचनाशीलता में ही बनती है। जहाँ अभिधात्मक पहचान और सर्वव्यापी चेतना की आवश्यकता है, वहाँ पूर्ववर्ती अनम्य कला रूपों, उदाहरण के लिए मिथक को तोड़कर कोई निकलने वाला रास्ता ही व्यापक और जटिल अनुभवों तक हमें ले जा सकता है। जादुई यथार्थ महज़ कला के आदिम रूपों की वापसी तक जाकर कभी समकालीन नहीं हो सकता। हमारे लिए तो और भी नहीं।[6]

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. हिन्दी कहानी का विकास–मधुरेश, पृ0 176.
2. आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता–गंगा प्रसाद विमल, पृ0 87.
3. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति–सुरेन्द्र चौधरी, पृ0 143.
4. वही, पृ0 145.
5. वही, पृ0 146.
6. समकालीन हिन्दी कहानी–डॉ0 एन0 मोहनन, पृ0 93.

Scanned with CamScanner